International Journal of Sociology and Political Science
www.sociologyjournal.in
Online ISSN: 2664-7745
Received: 01-08-2026, Accepted: 31-08-2026, Published: 15-09-2026
Volume 8, Issue 3, 2026, Page No. 166-171

बिहार में आरक्षण की राजनीति और सामाजिक न्यायरू मंडल आयोग से जातीय सर्वेक्षण तक राजनीतिक प्रतिनिधित्व एवं सामाजिक परिवर्तन का ऐतिहासिक अध्ययन

राजू कुमार
स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान विभाग
मुंगेर विश्वविद्यालय, मुंगेर, बिहार, भारत
DOI: https://doi.org/10.66856/ijsps.2026.8.3.8092

सारांश
भारतीय राजनीति के इतिहास में बिहार हमेशा से सामाजिक–राजनीतिक चेतना, आंदोलनों और नीतिगत बदलावों की प्रयोगशाला रहा है। भारत में सामाजिक न्याय की अवधारणा केवल आर्थिक विकास तक सीमित न होकर, ऐतिहासिक रूप से वंचित वर्गों को सामाजिक सम्मान, राजकीय संस्थाओं में अवसर तथा सत्ता में भागीदारी दिलाने से जुड़ी रही है। इस प्रक्रिया में 'आरक्षण' केवल एक कल्याणकारी नीति नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना के पुनर्गठन और लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व को विस्तार देने का एक सशक्त माध्यम बनकर उभरा है। स्वतंत्रता के पूर्व से शुरू हुआ यह संघर्ष 1990 के दशक में मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू किए जाने के बाद अपने चरम पर पहुँचा और हालिया 'जातीय आधारित सर्वेक्षण (2022–23)' के साथ एक नए चरण में प्रवेश कर चुका है।
बिहार की सामाजिक संरचना पारंपरिक रूप से जटिल जातिगत पदानुक्रम, जमींदारी व्यवस्था और उच्च जातियों के सामाजिक–राजनीतिक वर्चस्व से संचालित होती रही है। 20वीं सदी के पूर्वार्ध में श्त्रिवेणी संघ' के गठन ने पिछड़ी जातियों के भीतर चेतना का बीजारोपण किया, जिसे स्वतंत्रता के बाद जननायक कर्पूरी ठाकुर जैसे समाजवादी नेताओं ने संस्थागत आकार दिया। 1978 में लागू श्कर्पूरी ठाकुर फॉर्मूला' (मुंगेरी लाल आयोग की सिफारिशों के आधार पर) ने अन्य पिछड़े वर्गों (OBC) और अत्यंत पिछड़े वर्गों (EBC) के बीच अंतर स्पष्ट कर सामाजिक न्याय की राजनीति को अधिक समावेशी बनाया। यह व्यवस्था बाद में राष्ट्रीय स्तर पर नीति–निर्माण का आधार बनी।1990 के दशक में मंडल आयोग की रिपोर्ट का क्रियान्वयन और बिहार में उभरता नया राजनीतिक नेतृत्व राज्य की राजनीति में युगांतरकारी मोड़ साबित हुआ। इस दौर ने कांग्रेस के पारंपरिक वर्चस्व को समाप्त कर बहुजन राजनीति की नींव रखी। राजनीति का केंद्र केवल आर्थिक मुद्दों से हटकर "स्वर", "सम्मान" और "भागीदारी" पर केंद्रित हो गया। इसके परिणामस्वरूप, राज्य विधायिका और कार्यपालिका में पिछड़े, अति–पिछड़े और दलित वर्गों का प्रतिनिधित्व बढ़ा, जिससे पारंपरिक सत्ता संतुलन में ऐतिहासिक बदलाव देखने को मिला।
21वीं सदी के उत्तरार्ध में बिहार की सामाजिक न्याय की राजनीति ने एक नया क्षितिज छुआ। नीतीश कुमार के नेतृत्व में अत्यंत पिछड़े वर्गों, महादलितों और महिलाओं के लिए पंचायती राज संस्थाओं एवं सरकारी नौकरियों में आरक्षण (जैसे स्थानीय निकायों में EBC को 20ः और महिलाओं को 50ः आरक्षण) का प्रावधान किया गया। इसने शक्ति के विकेंद्रीकरण को निचले स्तर तक पहुँचाया। वहीं, हालिया 'जातीय आधारित सर्वेक्षण (2022–23)' ने सामाजिक न्याय की राजनीति को अनुभवजन्य और वैज्ञानिक आंकड़ों पर आधारित कर दिया है। 63ः से अधिक आबादी वाले OBC और EBC समूहों के आधिकारिक आंकड़ों ने आरक्षण की 50ः की पारंपरिक सीमा को चुनौती दी और "जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी हिस्सेदारी" के विचार को एक नया संवैधानिक और सामाजिक आधार प्रदान किया। प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य मंडल आयोग के दौर से लेकर जातीय सर्वेक्षण तक के बिहार के राजनीतिक–सामाजिक सफर का आलोचनात्मक एवं ऐतिहासिक विश्लेषण करना है। यह शोध इस बात की जांच करता है कि कैसे आरक्षण की नीतियों ने पारंपरिक सामाजिक पदानुक्रम को तोड़कर वंचित समूहों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया। साथ ही, यह अध्ययन इस बात का भी मूल्यांकन करता है कि क्या यह राजनीतिक सशक्तिकरण वास्तविक सामाजिक–आर्थिक सशक्तीकरण में बदल पाया है या केवल जातीय लामबंदी और चुनावी गोलबंदी का साधन बनकर रह गया है।

मूल शब्दः आरक्षण की राजनीति, सामाजिक न्याय, मंडल आयोग, जातीय सर्वेक्षण, राजनीतिक प्रतिनिधित्व, पिछड़ा वर्ग।

बिहार में सामाजिक न्याय और आरक्षण की राजनीति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए औपनिवेशिक काल की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संरचना का अध्ययन आवश्यक है। ब्रिटिश शासन के दौरान बिहार के ग्रामीण समाज में भूमि–संबंधों, ज़मींदारी व्यवस्था और जातिगत पदानुक्रम ने सामाजिक शक्ति के वितरण को गहराई से प्रभावित किया। स्थायी बंदोबस्त के बाद विकसित ज़मींदारी व्यवस्था ने अनेक क्षेत्रों में भूमि और राजस्व–संग्रह की शक्ति को सीमित सामाजिक समूहों के हाथों में केंद्रित किया, जबकि बड़ी संख्या में कृषक, खेतिहर मजदूर, कारीगर और परंपरागत व्यवसायों से जुड़े समुदाय आर्थिक तथा सामाजिक रूप से कमजोर बने रहे। [1] शिक्षा, प्रशासनिक सेवाओं और आधुनिक संस्थाओं तक पहुँच भी समान रूप से वितरित नहीं थी। इसी परिस्थितिगत पृष्ठभूमि में बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में पिछड़ी जातियों के बीच सामाजिक जागृति और संगठन की प्रक्रिया विकसित हुई। यादव, कुर्मी और कोइरी जैसे कृषक समुदायों में शिक्षा, संगठन और राजनीतिक प्रतिनिधित्व की आकांक्षा बढ़ने लगी। इसी प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण परिणाम 1930 के दशक में त्रिवेणी संघ के रूप में सामने आया। त्रिवेणी संघ ने पिछड़े समुदायों को संगठित करके सामाजिक सम्मान, राजनीतिक भागीदारी और प्रशासनिक अवसरों में हिस्सेदारी की माँग को अधिक स्पष्ट रूप दिया। इसका संघर्ष केवल चुनावों में अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करने तक सीमित नहीं था, बल्कि ग्रामीण सत्ता–संबंधों में मौजूद असमानता और सामाजिक वर्चस्व को चुनौती देने से भी जुड़ा था। [2] इस आंदोलन ने यह विचार मजबूत किया कि लोकतांत्रिक राजनीति में केवल औपचारिक समानता पर्याप्त नहीं है, बल्कि ऐतिहासिक

रूप से वंचित समुदायों को विशेष अवसर प्रदान करना आवश्यक है। स्वतंत्रता आंदोलन के व्यापक राजनीतिक वातावरण ने भी इन सामाजिक समूहों में नागरिक अधिकार और राजनीतिक भागीदारी की चेतना को मजबूत किया। इस प्रकार बिहार में स्वतंत्रता से पूर्व विकसित पिछड़ा वर्ग चेतना ने स्वतंत्रता के बाद आरक्षण, सामाजिक न्याय और राजनीतिक प्रतिनिधित्व की नीतियों के लिए सामाजिक आधार तैयार किया। इस दृष्टि से देखा जाए तो बिहार की आरक्षण राजनीति अचानक उत्पन्न हुई राजनीतिक रणनीति नहीं थी, बल्कि इसके पीछे लंबे समय से विकसित हो रही सामाजिक गतिशीलता, कृषक समुदायों की राजनीतिक चेतना और सामाजिक सम्मान की आकांक्षा का महत्वपूर्ण योगदान था। [3]

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान ने सामाजिक रूप से वंचित वर्गों के उत्थान और समान अवसर की स्थापना के लिए विशेष प्रावधानों की व्यवस्था की। बिहार ने इस संवैधानिक भावना को राज्य की सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप लागू करने के लिए अपेक्षाकृत प्रारंभिक प्रयास किए। स्वतंत्रता के बाद यह स्पष्ट हो गया था कि केवल कानूनी समानता स्थापित करने से उन समुदायों की स्थिति में तत्काल परिवर्तन संभव नहीं होगा जो सदियों से शिक्षा, भूमि, प्रशासन और आर्थिक अवसरों से दूर रहे थे। इसी संदर्भ में बिहार में पिछड़े वर्गों की पहचान और उनके लिए विशेष अवसरों की व्यवस्था पर विचार किया गया। मुंगेरी लाल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की दिशा में मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही। 1970 के दशक में कर्पूरी ठाकुर ने पिछड़े वर्गों के प्रश्न को बिहार की राजनीति के केंद्र में ला दिया। [4] 1978 में लागू कर्पूरी ठाकुर फार्मूला विशेष रूप से महत्वपूर्ण था, क्योंकि इसमें पिछड़े वर्गों के भीतर मौजूद सामाजिक असमानता को पहचानते हुए आरक्षण के लाभ को अलग–अलग सामाजिक श्रेणियों में बाँटने का प्रयास किया गया। उपलब्ध विवरणों के अनुसार उस व्यवस्था में अत्यंत पिछड़े और पिछड़े वर्गों के लिए अलग हिस्सेदारी का प्रावधान किया गया था; यही 'कोटा के भीतर कोटा' की अवधारणा आगे चलकर बिहार की सामाजिक न्याय राजनीति की विशिष्ट पहचान बनी। [5] इस व्यवस्था के पीछे मूल विचार यह था कि यदि समूचे पिछड़े वर्ग को एक समान श्रेणी मानकर आरक्षण दिया जाएगा, तो अपेक्षाकृत सामाजिक और राजनीतिक रूप से मजबूत जातियाँ उसका अधिक लाभ उठा सकती हैं और अत्यंत पिछड़े समुदाय फिर से पीछे रह सकते हैं। इसलिए कर्पूरी ठाकुर मॉडल ने पिछड़े वर्गों के भीतर भी अवसरों के समान वितरण का प्रश्न उठाया। यह नीति राजनीतिक रूप से अत्यंत विवादास्पद भी रही और इसके विरोध में सामाजिक तथा राजनीतिक प्रतिक्रियाएँ हुईं। [6] फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्व इस तथ्य में है कि बिहार ने आरक्षण को केवल पिछड़ेपन के आधार पर एक समान लाभ देने के बजाय पिछड़ेपन के भीतर मौजूद अंतर को स्वीकार करने का प्रयास किया। इसी कारण कर्पूरी ठाकुर फार्मूला बाद की बिहार की राजनीति में एक स्थायी राजनीतिक और वैचारिक संदर्भ बन गया। आगे चलकर मंडल आयोग और नीतीश कुमार की EBzC–केंद्रित राजनीति में भी इस मॉडल की प्रतिध्वनि दिखाई देती है। इस प्रकार मुंगेरी लाल आयोग और कर्पूरी ठाकुर की नीति ने बिहार में सामाजिक न्याय को संस्थागत स्वरूप देने की दिशा में एक महत्वपूर्ण आधार निर्मित किया। [7]

1979 में बी.पी. मंडल की अध्यक्षता में द्वितीय पिछड़ा वर्ग आयोग का गठन भारतीय राजनीति में सामाजिक न्याय के इतिहास की महत्वपूर्ण घटना थी। आयोग का उद्देश्य सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों की पहचान करना तथा उनके उत्थान के लिए उपाय सुझाना था। आयोग ने विभिन्न सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक संकेतकों के आधार पर पिछड़ेपन का अध्ययन किया और केंद्र सरकार की नौकरियों में अन्य पिछड़ा वर्ग के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की। 1980 में रिपोर्ट प्रस्तुत होने के बाद लगभग एक दशक तक यह प्रश्न राष्ट्रीय राजनीति में निर्णायक रूप से लागू नहीं हुआ, लेकिन 1990 में प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार द्वारा मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू करने की घोषणा ने भारतीय राजनीति की दिशा बदल दी। बिहार में मंडल राजनीति का प्रभाव विशेष रूप से गहरा रहा क्योंकि राज्य में पिछड़े वर्गों की सामाजिक और राजनीतिक लामबंदी पहले से मौजूद थी। [8] मंडल आयोग ने आरक्षण को केवल सरकारी नौकरी में अवसर का प्रश्न नहीं रहने दिया, बल्कि इसे सामाजिक प्रतिनिधित्व, सत्ता में हिस्सेदारी और सम्मान के प्रश्न से जोड़ दिया। बिहार में मंडल के बाद पिछड़ी जातियों के बीच राजनीतिक जागरूकता और संगठन तेजी से बढ़ा। विश्वविद्यालयों, सरकारी संस्थाओं और राजनीतिक संगठनों में आरक्षण को लेकर बहस तेज हुई और सामाजिक समूहों ने अपने राजनीतिक अधिकारों को अधिक मुखरता से व्यक्त करना शुरू किया। [9] मंडल के विरोध में भी व्यापक आंदोलन हुए, जिससे यह स्पष्ट हुआ कि आरक्षण भारतीय समाज में केवल प्रशासनिक नीति नहीं बल्कि सामाजिक शक्ति–संतुलन से संबंधित प्रश्न है। बिहार में मंडल राजनीति ने विशेष रूप से चुनावी राजनीति की भाषा को बदल दिया। राजनीतिक दलों को सामाजिक समूहों की संख्या, उनकी राजनीतिक प्राथमिकताओं और प्रतिनिधित्व की माँग को ध्यान में रखना पड़ा। मंडल के बाद यह धारणा मजबूत हुई कि लोकतंत्र में केवल एक व्यक्ति–एक वोट की व्यवस्था पर्याप्त नहीं है; वास्तविक लोकतांत्रिक समानता के लिए प्रशासनिक और राजनीतिक संस्थाओं में विविध सामाजिक समूहों की भागीदारी भी आवश्यक है। बिहार इस परिवर्तन का प्रमुख उदाहरण बना, जहाँ मंडल राजनीति ने पिछड़े वर्गों को केवल आरक्षण प्राप्त करने वाले समूह के रूप में नहीं बल्कि सत्ता–संरचना को प्रभावित करने वाले राजनीतिक समुदाय के रूप में स्थापित किया। [10]

मंडल आयोग की राजनीति के बाद 1990 का दशक बिहार के सामाजिक और राजनीतिक इतिहास में सत्ता–संरचना के पुनर्गठन का काल बन गया। इस समय तक कांग्रेस का पारंपरिक राजनीतिक वर्चस्व कमजोर हो चुका था और नई सामाजिक शक्तियाँ राजनीतिक सत्ता में अधिक प्रभावशाली भूमिका निभाने लगी थीं। लालू प्रसाद यादव के नेतृत्व में सामाजिक न्याय की राजनीति ने पिछड़े वर्गों, विशेषकर यादवों और अन्य सामाजिक रूप से वंचित समूहों को राजनीतिक रूप से संगठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस दौर में राजनीति की भाषा में 'सामाजिक न्याय', 'सम्मान' और 'सत्ता में भागीदारी' जैसे शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हो गए। [11] सामाजिक न्याय का अर्थ केवल सरकारी नौकरी में आरक्षण नहीं बल्कि प्रशासन, विधानसभा, पंचायत और राजनीतिक दलों में निर्णय लेने की क्षमता प्राप्त करना भी माना जाने लगा। पिछड़ी जातियों के अनेक नेता राज्य की राजनीति के केंद्र में आए और इससे ग्रामीण समाज में राजनीतिक शक्ति–संतुलन में परिवर्तन हुआ। जिन समुदायों के सदस्य पहले स्थानीय स्तर पर भी प्रभावशाली निर्णय लेने की स्थिति में नहीं थे, वे धीरे–धीरे चुनावी राजनीति में निर्णायक भूमिका निभाने लगे। [12] इसका प्रभाव सामाजिक संबंधों पर भी पड़ा। सामाजिक रूप से निम्न समझे जाने वाले समुदायों में राजनीतिक आत्मसम्मान और सार्वजनिक संस्थाओं में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने की भावना मजबूत हुई। हालांकि इस दौर की राजनीति पर यह आलोचना भी की गई कि सामाजिक न्याय की राजनीति का लाभ सभी पिछड़े समुदायों तक समान रूप से नहीं पहुँच पाया और कुछ प्रभावशाली जातियाँ राजनीतिक सत्ता में अधिक मजबूत हो गईं। [13] फिर भी इस आलोचना के बावजूद 1990 के दशक को बिहार में राजनीतिक लोकतंत्रीकरण के एक महत्वपूर्ण चरण के रूप में देखा जा सकता है। इस दौर में जाति

केवल सामाजिक पहचान नहीं रही, बल्कि राजनीतिक संगठन और प्रतिनिधित्व का प्रमुख आधार बनी। इससे राज्य की चुनावी राजनीति में सामाजिक समूहों की संख्या, संगठन और राजनीतिक भागीदारी को पहले की तुलना में अधिक महत्व मिलने लगा। परिणामस्वरूप बिहार की सत्ता–संरचना में सामाजिक रूप से पिछड़े समुदायों की दृश्यता और राजनीतिक प्रभाव में उल्लेखनीय वृद्धि हुई और सामाजिक न्याय राज्य की राजनीति का केंद्रीय विमर्श बन गया। [14]

इक्कीसवीं सदी में बिहार की सामाजिक न्याय की राजनीति ने एक नया चरण प्राप्त किया, जिसमें पिछड़े वर्गों के भीतर मौजूद असमानताओं को विशेष महत्व दिया गया। नीतीश कुमार के नेतृत्व में राज्य सरकार ने अत्यंत पिछड़े वर्गों और अनुसूचित जातियों के भीतर अत्यधिक वंचित समूहों को राजनीतिक तथा प्रशासनिक अवसर उपलब्ध कराने की दिशा में अनेक कदम उठाए। इसका एक प्रमुख आधार यह समझ थी कि पिछड़ा वर्ग एक समान सामाजिक समूह नहीं है और उसके भीतर भी आर्थिक, शैक्षणिक तथा राजनीतिक शक्ति में पर्याप्त अंतर मौजूद है। [15] कुछ अपेक्षाकृत प्रभावशाली पिछड़ी जातियाँ लंबे समय से आरक्षण और राजनीतिक प्रतिनिधित्व का अधिक लाभ प्राप्त कर रही थीं, जबकि अनेक अत्यंत पिछड़ी जातियाँ राजनीतिक संगठन और संसाधनों की कमी के कारण पीछे रह गई थीं। इस समस्या के समाधान के लिए पंचायतों और स्थानीय निकायों में अत्यंत पिछड़े वर्गों को आरक्षण देने की नीति महत्वपूर्ण बनी। [16] इससे सत्ता के विकेंद्रीकरण को सामाजिक प्रतिनिधित्व से जोड़ा गया। पंचायतों में आरक्षण का महत्व इसलिए भी अधिक था क्योंकि ग्रामीण बिहार में स्थानीय सत्ता का संबंध केवल प्रशासन से नहीं बल्कि विकास योजनाओं, सरकारी संसाधनों, सड़क, शिक्षा, आवास, रोजगार और सामाजिक कल्याण से भी है। जब अत्यंत पिछड़े समुदायों के प्रतिनिधि स्थानीय संस्थाओं में पहुँचे, तो उनके सामने अपने समुदाय की समस्याओं को नीति और प्रशासन के स्तर पर उठाने का अवसर आया। इसी प्रकार महादलित श्रेणी के निर्माण और उसके लिए लक्षित योजनाओं ने अनुसूचित जातियों के भीतर मौजूद सामाजिक–आर्थिक अंतर को नीति के स्तर पर स्वीकार किया। [17] इस पूरी प्रक्रिया ने सामाजिक न्याय को एक व्यापक और अधिक सूक्ष्म रूप दिया। अब प्रश्न केवल 'पिछड़ों को कितना आरक्षण' देने का नहीं रहा, बल्कि यह भी महत्वपूर्ण हो गया कि पिछड़े वर्गों के भीतर कौन–से समूह आरक्षण का वास्तविक लाभ प्राप्त कर रहे हैं। इस दृष्टि से बिहार का EBC मॉडल सामाजिक न्याय की राजनीति में 'समान वर्ग के भीतर असमानता' को समझने का महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत करता है। [18]

बिहार में सामाजिक न्याय की राजनीति का विकास केवल जातिगत प्रतिनिधित्व तक सीमित नहीं रहा, बल्कि धीरे–धीरे इसमें लैंगिक न्याय और महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। लंबे समय तक ग्रामीण और राजनीतिक संस्थाओं में महिलाओं की भागीदारी अत्यंत सीमित रही थी। सामाजिक रूढ़ियों, शिक्षा की कमी, आर्थिक निर्भरता और सार्वजनिक जीवन से दूरी के कारण महिलाओं की राजनीतिक आवाज कमजोर थी। पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं के लिए आरक्षण ने इस स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। [19] बिहार में स्थानीय निकायों में महिलाओं के लिए व्यापक आरक्षण ने बड़ी संख्या में महिलाओं को पहली बार औपचारिक राजनीतिक पदों पर आने का अवसर प्रदान किया। इससे राजनीति की सामाजिक संरचना में परिवर्तन आया और ग्रामीण महिलाओं को ग्राम पंचायत, पंचायत समिति तथा जिला परिषद जैसी संस्थाओं के निर्णय–निर्माण में भाग लेने का अवसर मिला। इसी के साथ महिलाओं के लिए सरकारी रोजगार और शिक्षकीय नियुक्तियों में आरक्षण तथा शिक्षा एवं आजीविका से जुड़ी योजनाओं ने सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाया। [20] मुख्यमंत्री साइकिल योजना ने छात्राओं की विद्यालय तक पहुँच और उनकी गतिशीलता को बढ़ाने में भूमिका निभाई, जबकि जीविका जैसे कार्यक्रमों ने ग्रामीण महिलाओं को स्वयं सहायता समूहों और सामुदायिक आर्थिक गतिविधियों से जोड़ने का प्रयास किया। इन नीतियों का महत्व इसलिए भी है कि राजनीतिक प्रतिनिधित्व तभी प्रभावी हो सकता है जब उसके साथ शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता के अवसर भी उपलब्ध हों। हालांकि महिलाओं के राजनीतिक प्रतिनिधित्व के बावजूद कई चुनौतियाँ बनी हुई हैं। [21] कुछ स्थानों पर निर्वाचित महिला प्रतिनिधियों की जगह परिवार के पुरुष सदस्यों द्वारा निर्णय लेने की प्रवृत्ति, सामाजिक दबाव, आर्थिक निर्भरता और शिक्षा की कमी अभी भी दिखाई देती है। इसलिए बिहार में महिला आरक्षण का मूल्यांकन केवल निर्वाचित महिलाओं की संख्या से नहीं बल्कि इस बात से भी किया जाना चाहिए कि वे विकास योजनाओं, बजट, शिक्षा, स्वास्थ्य और स्थानीय प्रशासन से जुड़े निर्णयों में कितनी स्वतंत्र भूमिका निभा रही हैं। इस दृष्टि से जाति और जेंडर दोनों को साथ लेकर चलने वाली सामाजिक न्याय की अवधारणा बिहार के राजनीतिक परिवर्तन को अधिक व्यापक रूप प्रदान करती है। [22]

बिहार में जातीय आधारित सर्वेक्षण सामाजिक न्याय की राजनीति के इतिहास में एक महत्वपूर्ण और निर्णायक चरण के रूप में सामने आया। राज्य सरकार द्वारा कराए गए सर्वेक्षण के परिणामों का पहला प्रमुख भाग 2 अक्टूबर 2023 को सार्वजनिक किया गया और बाद में विस्तृत सामाजिक–आर्थिक आँकड़े भी प्रस्तुत किए गए। इस सर्वेक्षण का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि इसने लंबे समय से राजनीतिक बहस में अनुमानित सामाजिक संरचना को विस्तृत सांख्यिकीय आँकड़ों के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उपलब्ध रिपोर्टों के अनुसार अत्यंत पिछड़ा वर्ग लगभग 36 प्रतिशत, अन्य पिछड़ा वर्ग लगभग 27 प्रतिशत, अनुसूचित जाति लगभग 19.6 प्रतिशत और अनुसूचित जनजाति लगभग 1.6 प्रतिशत आबादी का हिस्सा थे; इस प्रकार EBC और OBC की संयुक्त आबादी लगभग 63 प्रतिशत बताई गई। इन आँकड़ों ने बिहार में सामाजिक न्याय की राजनीति को एक नया आधार प्रदान किया। [23] अब प्रतिनिधित्व की बहस केवल ऐतिहासिक दावों या राजनीतिक अनुभवों पर आधारित नहीं रही, बल्कि जनसंख्या के उपलब्ध आँकड़ों से जोड़ दी गई। सर्वेक्षण ने जाति के साथ–साथ आर्थिक स्थिति, शिक्षा, आवास और रोजगार जैसे सामाजिक–आर्थिक पक्षों पर भी ध्यान आकर्षित किया। इससे यह प्रश्न महत्वपूर्ण हुआ कि किसी समुदाय की जनसंख्या जितनी है, उसके अनुपात में सरकारी नौकरियों, शिक्षा, राजनीतिक संस्थाओं और विकास योजनाओं में उसकी वास्तविक भागीदारी कितनी है। [24] जातीय सर्वेक्षण ने राष्ट्रीय स्तर पर भी जातिगत आँकड़ों की आवश्यकता को लेकर बहस को तेज किया। समर्थकों ने इसे सामाजिक असमानताओं की पहचान और लक्षित नीतियों के लिए आवश्यक बताया, जबकि आलोचकों ने जाति की राजनीतिक भूमिका और संभावित सामाजिक ध्रुवीकरण को लेकर प्रश्न उठाए। इसलिए इस सर्वेक्षण का ऐतिहासिक महत्व केवल आँकड़े प्रस्तुत करने में नहीं बल्कि सामाजिक न्याय की राजनीति को 'अनुमान' से 'आँकड़ा–आधारित नीति' की ओर ले जाने में भी है। [25]

जातीय आधारित सर्वेक्षण के आँकड़ों के बाद बिहार में आरक्षण की सीमा बढ़ाने का प्रश्न सामाजिक न्याय की राजनीति का केंद्रीय विषय बन गया। राज्य सरकार ने सर्वेक्षण से प्राप्त सामाजिक संरचना के आधार पर अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग और अत्यंत पिछड़ा वर्ग के लिए आरक्षण बढ़ाने की पहल की। 2023 में बिहार सरकार ने राज्य की सरकारी नौकरियों और शैक्षणिक संस्थानों में इन वर्गों के लिए आरक्षण को 50 प्रतिशत से बढ़ाकर 65 प्रतिशत करने की

व्यवस्था अधिसूचित की; केंद्र के 10 प्रतिशत EWS प्रावधान को जोड़ने पर कुल आरक्षण 75 प्रतिशत तक पहुँचता था।26 इस व्यवस्था में अनुसूचित जाति के लिए 20 प्रतिशत, अनुसूचित जनजाति के लिए 2 प्रतिशत और OBC तथा EBC के लिए संयुक्त रूप से 43 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया गया। सरकार का तर्क था कि सर्वेक्षण के आँकड़ों से यह स्पष्ट हुआ कि अनेक सामाजिक समूह अभी भी शिक्षा और रोजगार के अवसरों में पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व नहीं कर पाए हैं और संविधान में निहित समान अवसर के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सकारात्मक कार्रवाई को अधिक प्रभावी बनाना आवश्यक है। दूसरी ओर, आरक्षण की सीमा 50 प्रतिशत से आगे बढ़ाने का प्रश्न संवैधानिक और न्यायिक विवाद का विषय बना। [27] पटना उच्च न्यायालय ने 2024 में 65 प्रतिशत आरक्षण बढ़ाने वाले संशोधन कानूनों को निरस्त कर दिया और इसके बाद यह मामला व्यापक संवैधानिक बहस का हिस्सा बना। इससे स्पष्ट होता है कि आरक्षण की राजनीति केवल सामाजिक न्याय और प्रतिनिधित्व का प्रश्न नहीं है, बल्कि इसके साथ संवैधानिक समानता, न्यायिक समीक्षा और प्रशासनिक नीति की जटिलताएँ भी जुड़ी हुई हैं। इसलिए बिहार में आरक्षण विस्तार को सामाजिक न्याय की ऐतिहासिक यात्रा के साथ–साथ भारतीय संविधान में समानता और सकारात्मक भेदभाव के बीच संतुलन के प्रश्न के रूप में भी समझना आवश्यक है। [28]

मंडल आयोग से लेकर जातीय आधारित सर्वेक्षण तक बिहार की राजनीति में सबसे महत्वपूर्ण और दूरगामी परिवर्तन राजनीतिक प्रतिनिधित्व की प्रकृति में आया है। स्वतंत्रता के शुरुआती दशकों में बिहार की राजनीतिक संस्थाओं में कुछ सामाजिक समूहों का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव था, जबकि पिछड़े, अत्यंत पिछड़े, दलित तथा अन्य वंचित समुदाय निर्णय–निर्माण की प्रक्रिया में सीमित भूमिका निभाते थे। यद्यपि लोकतांत्रिक व्यवस्था में सभी नागरिकों को मतदान का अधिकार प्राप्त था, लेकिन सामाजिक, आर्थिक और शैक्षणिक असमानताओं के कारण राजनीतिक सत्ता और प्रशासनिक अवसरों में सभी वर्गों की वास्तविक भागीदारी समान नहीं थी। [29] मंडल आयोग की सिफारिशों के लागू होने के बाद इस स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया और पिछड़े वर्गों में राजनीतिक चेतना, संगठन तथा सत्ता में भागीदारी की आकांक्षा अधिक मजबूत हुई। बिहार में मंडल राजनीति ने पिछड़े समुदायों को केवल मतदाता के रूप में नहीं, बल्कि सत्ता–संरचना के सक्रिय भागीदार के रूप में स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके परिणामस्वरूप विधानसभा और संसद के साथ–साथ पंचायतों तथा स्थानीय निकायों में भी पिछड़े और वंचित समुदायों की उपस्थिति बढ़ी। पंचायतों में आरक्षण ने इस प्रक्रिया को गाँव के स्तर तक पहुँचाया और ऐसे सामाजिक समूहों के लिए भी राजनीतिक नेतृत्व के अवसर पैदा किए जिनकी राजनीतिक संस्थाओं में पहले सीमित उपस्थिति थी। [30] इस परिवर्तन का प्रभाव केवल निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या तक सीमित नहीं रहा, बल्कि बिहार की चुनावी राजनीति, राजनीतिक दलों की रणनीतियों और सार्वजनिक नीतियों की प्राथमिकताओं में भी दिखाई दिया। राजनीतिक दलों के लिए अब विभिन्न जातीय और सामाजिक समूहों की जनसंख्या, उनकी क्षेत्रीय उपस्थिति, सामाजिक स्थिति तथा राजनीतिक अपेक्षाएँ चुनावी सफलता के महत्वपूर्ण आधार बन गईं। शिक्षा, सरकारी नौकरी, आरक्षण, छात्रवृत्ति, सामाजिक सुरक्षा, ग्रामीण विकास, सरकारी योजनाओं तक पहुँच और सामाजिक सम्मान जैसे प्रश्न राजनीतिक विमर्श के प्रमुख विषय बने। [31] विशेष रूप से अत्यंत पिछड़े वर्गों के राजनीतिक उभार ने यह प्रश्न सामने रखा कि व्यापक पिछड़ा वर्ग श्रेणी के भीतर सभी समुदायों को समान रूप से प्रतिनिधित्व और अवसर प्राप्त हो रहे हैं या नहीं। कुछ अपेक्षाकृत प्रभावशाली पिछड़ी जातियों के राजनीतिक और सामाजिक प्रभुत्व के कारण छोटे तथा अत्यंत पिछड़े समुदायों के लिए अलग प्रतिनिधित्व और विशेष नीतियों की आवश्यकता महसूस हुई। इसी पृष्ठभूमि में EBC को राजनीतिक रूप से संगठित करने तथा उन्हें स्थानीय सत्ता–संरचना में अधिक भागीदारी देने की नीतियाँ महत्वपूर्ण बनीं। इसी प्रकार महिलाओं के लिए पंचायतों और स्थानीय निकायों में आरक्षण ने राजनीतिक प्रतिनिधित्व के सामाजिक आधार को और व्यापक बनाया, लेकिन महिलाओं की संख्या बढ़ने के साथ यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण बना रहा कि वे वास्तविक निर्णय–निर्माण में कितनी स्वतंत्र और प्रभावी भूमिका निभा रही हैं। [32] इसलिए प्रतिनिधित्व का मूल्यांकन केवल इस आधार पर नहीं किया जा सकता कि किसी समुदाय के कितने लोग निर्वाचित हुए, बल्कि यह भी देखना आवश्यक है कि वे नीति–निर्माण, प्रशासनिक निर्णय, विकास योजनाओं, बजट और संसाधनों के वितरण को प्रभावित करने में कितने सक्षम हैं। [33] जातीय आधारित सर्वेक्षण ने इस बहस को और अधिक व्यापक बनाया, क्योंकि इससे विभिन्न सामाजिक समूहों की जनसंख्या तथा सामाजिक–आर्थिक स्थिति से संबंधित आँकड़े सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बने और प्रतिनिधित्व को जनसंख्या, सामाजिक पिछड़ेपन तथा संसाधनों तक पहुँच के प्रश्न से जोड़ने का आधार मिला। इस प्रकार मंडल आयोग से जातीय आधारित सर्वेक्षण तक बिहार में राजनीतिक प्रतिनिधित्व की यात्रा सीमित और सांकेतिक भागीदारी से आगे बढ़कर व्यापक सामाजिक सत्ता–साझेदारी की दिशा में विकसित हुई है। [34] फिर भी यह प्रक्रिया अभी पूर्ण नहीं हुई है, क्योंकि वास्तविक सामाजिक न्याय तभी सुनिश्चित होगा जब राजनीतिक प्रतिनिधित्व के साथ–साथ शिक्षा, रोजगार, प्रशासनिक अवसर, आर्थिक संसाधनों और निर्णय–निर्माण में विभिन्न सामाजिक समूहों की प्रभावी भागीदारी भी सुनिश्चित हो। इस दृष्टि से बिहार का अनुभव भारतीय लोकतंत्र में सामाजिक शक्ति–संतुलन के परिवर्तन और वंचित समुदायों के राजनीतिक सशक्तीकरण की एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रिया को दर्शाता है। [35]

बिहार में आरक्षण और राजनीतिक प्रतिनिधित्व की राजनीति ने सामाजिक शक्ति–संतुलन को निश्चित रूप से प्रभावित किया है, लेकिन इसके बावजूद आर्थिक असमानता, गरीबी, शिक्षा और रोजगार से जुड़ी समस्याएँ बड़ी चुनौती बनी हुई हैं। जातीय आधारित सर्वेक्षण के आर्थिक आँकड़ों ने यह प्रश्न और अधिक स्पष्ट किया कि राजनीतिक प्रतिनिधित्व और आर्थिक सशक्तीकरण एक–दूसरे के पर्याय नहीं हैं। [36] किसी समुदाय के पास विधानसभा, पंचायत या अन्य संस्थाओं में प्रतिनिधित्व होने के बावजूद उसके सभी परिवारों की आर्थिक स्थिति स्वतः बेहतर नहीं हो जाती। भूमि, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, स्थायी रोजगार, स्वास्थ्य सेवाएँ, पूँजी, तकनीकी कौशल और बाजार तक पहुँच जैसी सुविधाओं का असमान वितरण सामाजिक पिछड़ेपन को लंबे समय तक बनाए रख सकता है। बिहार के जातीय सर्वेक्षण के साथ सामने आए आर्थिक आँकड़ों ने बड़ी संख्या में निम्न–आय वाले परिवारों की स्थिति पर ध्यान आकर्षित किया। सरकार ने सर्वेक्षण के आधार पर गरीब परिवारों के लिए आर्थिक सहायता और अन्य कल्याणकारी उपायों की घोषणा भी की। [37] इससे यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक न्याय की राजनीति धीरे–धीरे केवल आरक्षण की माँग से आगे बढ़कर सामाजिक–आर्थिक पुनर्वितरण के प्रश्न से जुड़ रही है। विशेष रूप से अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, EBC और अन्य कमजोर समुदायों में आर्थिक अवसरों की कमी शिक्षा और रोजगार की पीढ़ीगत असमानता को बढ़ा सकती है। [38] इसलिए केवल आरक्षण प्रतिशत बढ़ाने से सामाजिक न्याय का अंतिम लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। आरक्षण के साथ प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की गुणवत्ता, उच्च शिक्षा तक पहुँच, कौशल विकास, स्वास्थ्य सुविधाएँ, उद्यमिता, कृषि सुधार, रोजगार सृजन और सामाजिक

सुरक्षा को भी समान महत्व देना होगा। इसके अलावा यह अध्ययन करना भी आवश्यक है कि आरक्षण के लाभ किन सामाजिक समूहों तक अधिक पहुँच रहे हैं और कौन–से समूह अभी भी पीछे हैं। इस प्रकार बिहार का अनुभव यह बताता है कि राजनीतिक सशक्तीकरण सामाजिक परिवर्तन का महत्वपूर्ण साधन है, लेकिन आर्थिक समानता के लिए बहुआयामी नीतिगत हस्तक्षेप आवश्यक है। [39]

बिहार में आरक्षण और सामाजिक न्याय की राजनीति अब एक ऐसे चरण में प्रवेश कर चुकी है जहाँ पहचान और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के साथ–साथ संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण होता जा रहा है। 'जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी हिस्सेदारी' का विचार जातीय आधारित सर्वेक्षण के बाद एक बार फिर व्यापक राजनीतिक विमर्श का हिस्सा बना। इस विचार का मूल आधार यह है कि राज्य की जनसंख्या में विभिन्न सामाजिक समूहों की संख्या और उनकी सामाजिक–आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए शिक्षा, रोजगार, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और विकास के अवसरों का अधिक न्यायपूर्ण वितरण किया जाए। जातीय सर्वेक्षण ने इस बहस को आँकड़ों का आधार प्रदान किया और यह प्रश्न उठाया कि क्या वर्तमान प्रतिनिधित्व और आरक्षण की व्यवस्था राज्य की सामाजिक संरचना को पर्याप्त रूप से प्रतिबिंबित करती है। [40] हालांकि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की अवधारणा को लागू करना आसान नहीं है, क्योंकि इसके साथ संविधान में समानता, सकारात्मक भेदभाव, आरक्षण की सीमा और न्यायिक सिद्धांतों जैसे अनेक प्रश्न जुड़े हुए हैं। भविष्य में बिहार की सामाजिक न्याय की राजनीति को केवल आरक्षण प्रतिशत बढ़ाने तक सीमित रखना पर्याप्त नहीं होगा। [41] वास्तविक सामाजिक परिवर्तन के लिए गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, उच्च शिक्षा में समान अवसर, सरकारी एवं निजी क्षेत्र में रोजगार, कौशल विकास, उद्यमिता, स्वास्थ्य, भूमि और आर्थिक संसाधनों तक पहुँच तथा सामाजिक सुरक्षा को भी सामाजिक न्याय की व्यापक अवधारणा में शामिल करना होगा। साथ ही जातीय आँकड़ों का उपयोग राजनीतिक ध्रुवीकरण के बजाय लक्षित विकास और नीति–निर्माण के लिए किया जाना अधिक उपयोगी होगा। बिहार का ऐतिहासिक अनुभव बताता है कि त्रिवेणी संघ से शुरू हुई सामाजिक चेतना, कर्पूरी ठाकुर के पिछड़ा वर्ग मॉडल, मंडल आयोग की राजनीति, 1990 के दशक के सामाजिक न्याय आंदोलन, अत्यंत पिछड़े वर्गों के सशक्तीकरण और जातीय सर्वेक्षण तक की यात्रा एक निरंतर विकसित होती प्रक्रिया है। [42] आज सामाजिक न्याय का अर्थ केवल सत्ता में किसी समुदाय की उपस्थिति नहीं बल्कि यह सुनिश्चित करना है कि समाज के विभिन्न वर्गों को सम्मान, अवसर, शिक्षा, रोजगार और संसाधनों तक न्यायपूर्ण पहुँच प्राप्त हो। इस प्रकार बिहार की भविष्य की राजनीति के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह होगी कि वह जातीय पहचान की राजनीति को सामाजिक समानता, आर्थिक न्याय और समावेशी विकास की ठोस नीतियों में किस प्रकार परिवर्तित करती है। [43]

बिहार में आरक्षण की राजनीति का विकास सामाजिक न्याय, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सामाजिक परिवर्तन की एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रिया को दर्शाता है। मंडल आयोग की सिफारिशों ने पिछड़े वर्गों को राजनीतिक और प्रशासनिक अवसरों में अधिक भागीदारी का आधार प्रदान किया, जबकि बिहार में आरक्षण की नीतियों ने अत्यंत पिछड़े वर्गों, दलितों और महिलाओं को भी सत्ता तथा निर्णय–निर्माण की प्रक्रिया से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। समय के साथ आरक्षण केवल सरकारी नौकरियों और शैक्षणिक संस्थानों तक सीमित मुद्दा नहीं रहा, बल्कि यह राजनीतिक प्रतिनिधित्व, सामाजिक सम्मान, संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण और सत्ता में भागीदारी से जुड़ा व्यापक प्रश्न बन गया। 2022–23 के जातीय आधारित सर्वेक्षण ने बिहार की सामाजिक संरचना और विभिन्न समुदायों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति को आँकड़ों के माध्यम से सामने लाकर आरक्षण और प्रतिनिधित्व की बहस को नई दिशा दी। इससे यह स्पष्ट हुआ कि सामाजिक न्याय की वास्तविक स्थापना के लिए केवल आरक्षण की व्यवस्था पर्याप्त नहीं है, बल्कि शिक्षा, रोजगार, आर्थिक अवसर और राजनीतिक निर्णय–निर्माण में समान भागीदारी भी आवश्यक है। इस प्रकार मंडल आयोग से जातीय सर्वेक्षण तक बिहार का अनुभव सामाजिक रूप से वंचित समूहों के राजनीतिक सशक्तीकरण और लोकतांत्रिक सत्ता के व्यापक सामाजिक आधार के निर्माण की महत्वपूर्ण यात्रा को प्रस्तुत करता है।

संदर्भ:

1. कश्यप, सुभाष सी., हमारा संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2015, पृ. 185.
2. कश्यप, सुभाष सी., भारतीय राजनीति और संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 2011, पृ. 214.
3. चतुर्वेदी, डी एन, भारतीय संविधान और शासन व्यवस्था, सुल्तान चंद एंड संस, नई दिल्ली, 2018, पृ. 326.
4. दत्ता, के. के., हिस्ट्री ऑफ द फ्रीडम मूवमेंट इन बिहार, बिहार सरकार, पटना, 1957, पृ. 142.
5. शर्मा, रामविलास, भारतीय समाज और सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 96.
6. श्रीनिवास, एम. एन., सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया, ओरिएंट लॉन्गमैन, नई दिल्ली, 1966, पृ. 72.
7. घुर्ये, जी. एस., कास्ट एंड रेस इन इंडिया, पॉपुलर प्रकाशन, मुंबई, 1969, पृ. 154.
8. रिजली, हर्बर्ट, द पीपुल ऑफ इंडिया, एशियन एजुकेशनल सर्विसेज, नई दिल्ली, 1991, पृ. 248.
9. बेटाइल, आंद्रे, कास्ट, क्लास एंड पावर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1996, पृ. 112.
10. गैलन्टर, मार्क, कम्पीटिंग इक्वैलिटीजरू लॉ एंड द बैकवर्ड क्लासेज इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1984, पृ. 135.
11. वही, पृ. 218.
12. ओमवेट, गेल, डेलिट्स एंड द डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1994, पृ. 174.
13. जाफरलोट, क्रिस्टोफ, इंडियाज़ साइलेंट रिवोल्यूशनरू द राइज ऑफ द लोअर कास्ट्स इन नॉर्थ इंडिया, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क, 2003, पृ. 246.
14. कोठारी, राजणी, पॉलिटिक्स इन इंडिया, ओरिएंट लॉन्गमैन, नई दिल्ली, 1970, पृ. 97.
15. वही, पृ. 24.
16. वही, पृ. 156.
17. मंडल, बी. पी., रिपोर्ट ऑफ द बैकवर्ड क्लासेज कमीशन, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 1980, पृ. 18दृ20.
18. वही, पृ. 45.
19. भारत सरकार, कन्स्टिट्यूशन ऑफ इंडिया, मिनिस्ट्री ऑफ लॉ एंड जस्टिस, नई दिल्ली, 2024, पृ. 38.
20. भारत सरकार, कन्स्टिट्यूशनल प्रोविजन्स रिलेटिंग टू रिजर्वेशन एंड सोशल जस्टिस, मिनिस्ट्री ऑफ सोशल जस्टिस एंड एम्पावरमेंट, नई दिल्ली, 2020, पृ. 22.
21. भारत सरकार, सेंसस ऑफ इंडिया 2011रू प्राइमरी सेंसस एब्स्ट्रैक्ट, रजिस्ट्रार जनरल एंड सेंसस कमिश्नर, नई दिल्ली, 2011, पृ. 64.
22. भारत सरकार, सेंसस ऑफ इंडिया 1931रू बिहार एंड उड़ीसा, सेंसस डिपार्टमेंट, पटना, 1933, पृ. 118.

23. बिहार सरकार, रिपोर्ट ऑफ द बैकवर्ड क्लासेज कमीशन, बिहार, बिहार सरकार, पटना, 1971, पृ. 35.
24. जाफरलोट, क्रिस्टोफ, पूर्वोक्त, पृ. 183.
25. बिहार सरकार, रिपोर्ट ऑफ द मुंगेरी लाल कमीशन, बिहार सरकार, पटना, 1976, पृ. 52.
26. वही, पृ. 214.
27. बिहार सरकार, बिहार पंचायती राज एक्ट, 2006, पंचायती राज डिपार्टमेंट, पटना, 2006, पृ. 18.
28. बिहार सरकार, बिहार रिजर्वेशन ऑफ वेकेंसीज इन पोस्ट्स एंड सर्विसेज फॉर शेड्यूल्ड कास्ट्स, शेड्यूल्ड ट्राइब्स एंड अदर बैकवर्ड क्लासेज एक्ट, 1991, बिहार सरकार, पटना, 1991, पृ. 12.
29. बिहार सरकार, बिहार रिजर्वेशन ऑफ वेकेंसीज इन पोस्ट्स एंड सर्विसेज फॉर शेड्यूल्ड कास्ट्स, शेड्यूल्ड ट्राइब्स एंड अदर बैकवर्ड क्लासेज अमेंडमेंट एक्ट, 2002, बिहार सरकार, पटना, 2002, पृ. 8.
30. बिहार सरकार, बिहार रिजर्वेशन इन वेकेंसीज ऑफ पोस्ट्स एंड सर्विसेज एंड इन एडमिशन इन द एजुकेशनल इंस्टीट्यूशंस फॉर इकोनॉमिकली वीकर सेक्शंस एक्ट, 2019, बिहार सरकार, पटना, 2019, पृ. 6.
31. बिहार सरकार, बिहार कास्ट–बेस्ड सर्वे 2022द्23रू रिपोर्ट, जनरल एडमिनिस्ट्रेशन डिपार्टमेंट, पटना, 2023, पृ. 13द्15.
32. बिहार सरकार, जाति आधारित सर्वेक्षण 2022द्23रू सामाजिक–आर्थिक एवं शैक्षणिक स्थिति, जनरल एडमिनिस्ट्रेशन डिपार्टमेंट, पटना, 2023, पृ. 25.
33. यादव, योगेंद्र, इलेक्शन पॉलिटिक्स इन बिहार, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1996, पृ. 86.
34. रॉय, रामाश्रय, कास्ट एंड पॉलिटिकल मोबिलाइजेशन इन बिहार, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1988, पृ. 112.
35. प्रसाद, रंजन, बिहार पॉलिटिक्सरू फ्रॉम सोशल जस्टिस टू डेवलपमेंट, शिप्रा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2015, पृ. 142.
36. श्रीवास्तव, एस. एस., इमर्जेन्स ऑफ बैकवर्ड कास्ट पॉलिटिक्स इन बिहाररू कोएलिशन, अलाइनमेंट एंड डॉमिनेंस, इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, 2014, पृ. 675द्686.
37. चंद्र, विपिन, भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद और सामाजिक परिवर्तन, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2010, पृ. 286.
38. शर्मा, आर. एस., इंडियन सोसाइटीरू इंस्टीट्यूशंस एंड सोशल चेंज, मानक पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2005, पृ. 128.
39. बेटाइल, आंद्रे, इक्वैलिटी एंड इनइक्वैलिटी इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1981, पृ. 89.
40. सेन, अमर्त्य, डेवलपमेंट ऐज़ फ्रीडम, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 1999, पृ. 147.
41. द्रेज़, ज्याँ एवं सेन, अमर्त्य, एन अनसर्टेन ग्लोरीरू इंडिया एंड इट्स कॉन्ट्राडिक्शंस, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, 2013, पृ. 176.
42. जाफरलोट, क्रिस्टोफ, पूर्वोक्त, पृ. 118.
43. भारत सरकार, इंद्रा साहनी बनाम भारत संघरू आरक्षण एवं सामाजिक न्याय संबंधी निर्णय, सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 1992, पृ. 477.